ज्ञानानां च फलानां च ज्ञेयानां कर्मणां तथा ।
क्षयान्ते यत् फलं विद्याज्ज्ञानं ज्ञेयप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

ज्ञान, फल, ज्ञेय और कर्म—इन सबका अन्त होनेपर जो प्राप्तव्य फलरूपसे शेष रहता है, उसको ही तुम ज्ञेयमात्रमें व्याप्त होकर स्थित हुआ ज्ञानस्वरूप परमात्मा समझो ॥ ८ ॥

महद्धि परमं भूतं यत् प्रपश्यन्ति योगिनः ।
अबुधास्तं न पश्यन्ति ह्यात्मस्थं गुणबुद्धयः ॥ ९ ॥

उस परम महान् तत्त्वको योगिजन ही देख पाते हैं ! विषयोंमें आसक्त अज्ञानी मनुष्य अपने भीतर ही विराजमान उस परब्रह्म परमात्माको नहीं देख सकते हैं ॥ ९ ॥

गुणेष्वेते प्रकाशन्ते निर्गुणत्वात् ततः परम् ।
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥ १५ ॥

ये बद्ध जीव गुणोंमें अर्थात् गुणोंके कार्यरूप शरीर आदिके सम्बन्धसे व्यक्त हो रहे हैं, परंतु परमात्मा निर्गुण होनेके कारण उनसे अत्यन्त परे हैं । जो निवृत्तिरूप धर्म (निष्काम कर्म) है, वह अक्षय पद (मोक्ष) की प्राप्ति करानेमें समर्थ है ॥ १५ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः ।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः ॥ १६ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये अध्ययनकालमें शरीरके आश्रित रहते हैं और जिह्वाके अग्रभागपर प्रकट होते हैं, इसीलिये वे यत्नसाध्य और विनाशशील हैं अर्थात् इनका लुप्त होना स्वाभाविक है ॥ १६ ॥

न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम् ।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत् ॥ १७ ॥

किंतु परब्रह्म परमात्मा इस प्रकार शरीरका आश्रय लेकर प्रकट होनेपर भी वेदाध्ययनकी भाँति यत्नसाध्य नहीं है, क्योंकि उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है ॥ १७ ॥

MAHABHARAT SHANTI PERV 4946pg.

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते ।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥ १८ ॥

वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका आदि कहलाता है । जिनका कोई आदि होता है, उन पदार्थोंका अन्त होता देखा गया है । ब्रह्मका कोई भी आदि नहीं बताया गया है ।

अनादित्वादनन्तत्वात् तदनन्तमथाव्ययम् ।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥ १९ ॥

वह अनादि और अनन्त होनेके कारण अक्षय और अविनाशी है । अविनाशी होनेसे ही दुःखरहित है । उसमें हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वोंका अभाव है; अतएव वह सबसे परे है ॥ १९ ॥

अदृष्टतोऽनुपायाच्च प्रतिसंधेश्च कर्मणः ।
न तेन मर्त्याः पश्यन्ति येन गच्छन्ति तत् पदम् ॥ २० ॥

परंतु दुर्भाग्य, साधनहीनता और कर्मफलविषयक आसक्तिके कारण जिससे परमात्माकी प्राप्ति होती है, मनुष्य उस मार्गका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ २० ॥

विषयेषु च संसर्गाच्छाश्वतस्य च दर्शनात् ।
मनसा चान्यदाकाङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

मनुष्योंकी विषयोंमें आसक्ति है; क्योंकि विषयसुख सदा रहनेवाले हैं; ऐसी उनकी भावना है तथा वे अपने मनसे सांसारिक पदार्थोंको पानेकी इच्छा रखते हैं, इसीलिये उन्हें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥

गुणान् यदिह पश्यन्ति तदिच्छन्त्यपरे जनाः ।
परं नैवाभिकाङ्क्षन्ति निर्गुणत्वाद् गुणार्थिनः ॥ २२ ॥

संसारी मनुष्य इस संसारमें जिन-जिन विषयोंको देखते हैं, उन्हींको पाना चाहते हैं । सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हें पानेके लिये उनके मनमें इच्छा नहीं होती है, क्योंकि वे गुणार्थी (विषयाभिलाषी) होते हैं और परमात्मा निर्गुण (गुणातीत) हैं ॥ २२ ॥

यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम् ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा ॥ १२ ॥

परंतु जब साधक सबके आदिकारण निर्गुण ध्येयतत्त्वको ध्यानद्वारा अन्तःकरणमें प्राप्त कर लेता है, तब कसौटीपर कसे हुए सुवर्णके समान ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है ॥

मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम् ।
न समक्षगुणापेक्षि निर्गुणस्य निदर्शकम् ॥ १३ ॥

परंतु इन्द्रियोंके विषयोंको दिखलानेवाला मन जब पहलेसे ही विषयोंकी ओर अपहृत हो जाता है, तब वह विषयरूप गुणोंकी अपेक्षा रखनेवाला मन निर्गुण तत्त्वका दर्शन करानेमें समर्थ नहीं होता ॥ १३ ॥

सर्वाण्येतानि संवार्य द्वाराणि मनसि स्थितः ।
मनस्येकाग्रतां कृत्वा तत्परं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

समस्त इन्द्रियोंको रोककर संकल्पमात्रसे मनमें स्थित हो उन सबको हृदयमें एकत्र करके साधक उससे भी परे विद्यमान परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

सूक्ष्मेण मनसा विप्रो ब्रह्म वक्तुं न शक्नुमः ।
मनो हि मनसा ग्राह्यं दर्शनेन च दर्शनम् ॥ २४ ॥

हम ध्यानद्वारा शुद्ध और सूक्ष्म हुए मनसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव तो कर सकते हैं, किंतु वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं कर सकते; क्योंकि मनके द्वारा ही मानसिक विषयका ग्रहण हो सकता है और ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेयको जाना जा सकता है ॥ २४ ॥

ज्ञानेन निर्मलीकृत्य बुद्धिं बुद्ध्या मनस्तथा ।
मनसा चेन्द्रियग्राममक्षरं प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥

इसलिये ज्ञानके द्वारा बुद्धिको, बुद्धिके द्वारा मनको तथा मनके द्वारा इन्द्रिय-समुदायको निर्मल एवं शुद्ध करके अविनाशी परमात्माको प्राप्त किया जा सकता है ॥ २५ ॥

गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि ।
तदा त्वमात्मनाऽऽत्मानं परं द्रक्ष्यसि शाश्वतम् ॥ ६ ॥

जिस समय ये इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे हटकर अपने निवासस्थानमें स्थित हो जायँगी, उस समय तुम स्वयं ही उस सनातन परमात्माका दर्शन कर लोगे ॥ ६ ॥

सर्वात्मानं महात्मानं विधूममिव पावकम् ।
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ ७ ॥

धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान वह परमेश्वर ही सबका आत्मा और परम महान् है । महात्मा एवं ज्ञानी ब्राह्मण ही उसे देख पाते हैं ॥ ७ ॥

नैतज्ज्ञात्वा पुमान् स्त्री वा पुनर्भवमवाप्नुते ।
अभवप्रतिपत्त्यर्थमेतद् धर्मं विधीयते ॥ २३ ॥

पुरुष हो या स्त्री, इस ब्रह्मको जान ले तो उसका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता । अपुनर्भवस्थिति प्राप्त करनेके लिये ही इस ब्रह्मज्ञानरूप धर्मका विधान किया गया है ॥ २३ ॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ॥ ११ ॥

वेदका सार है सत्य वचन, सत्यका सार है इन्द्रियोंका संयम, संयमका सार है दान और दानका सार है तपस्या ॥

तपसोपनिषत् त्यागस्त्यागस्योपनिषत् सुखम् ।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥ १२ ॥

तपस्याका सार है त्याग, त्यागका सार है सुख, सुखका सार है स्वर्ग और स्वर्गका सार है शान्ति ॥ १२ ॥

क्लेदनं शोकमनसोः संतापं तृष्णया सह ।
सत्त्वमिच्छसि संतोषाच्छान्तिलक्षणमुत्तमम् ॥ १३ ॥

मनुष्यको संतोषपूर्वक रहकर शान्तिके उत्तम उपाय सत्त्वगुणको अपनानेकी इच्छा करनी चाहिये । सत्त्वगुण मनकी तृष्णा, शोक और संकल्पको उसी प्रकार जलाकर नष्ट करनेवाला है, जैसे गरम जल चावलको गला देता है ॥

विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः ।
षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

शोकशून्य, ममतारहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्यहीन और संतोषी—इन छः लक्षणोंसे युक्त मनुष्य पूर्णतः ज्ञानसे तृप्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

षड्भिः सत्त्वगुणोपेतैः प्राज्ञैरधिगतं त्रिभिः ।
ये विदुः प्रेत्य चात्मानमिहस्थं तं गुणं विदुः ॥ १५ ॥

जो देहाभिमानसे मुक्त होकर सत्त्वप्रधान सत्य, दम, दान, तप, त्याग और शम—इन छः गुणों तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप त्रिविध साधनोंसे प्राप्त होनेवाले आत्माको इस शरीरके रहते हुए ही जान लेते हैं, वे परम शान्तिरूप गुणको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

अकृत्रिममसंहार्यं प्राकृतं निरुपस्कृतम् ।
अध्यात्मं सुकृतं प्राप्तः सुखमव्ययमश्नुते ॥ १६ ॥

जो उत्पत्ति और विनाशसे रहित, स्वभावसिद्ध, संस्कारशून्य तथा शरीरके भीतर स्थित सुकृत नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह अक्षय सुखका भागी होता है ॥ १६ ॥

निष्प्रचारं मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्याऽऽत्मनोऽन्यथा ॥ १७ ॥

अपने मनको इधर-उधर जानेसे रोककर आत्मामें सम्पूर्णरूपसे स्थापित कर लेनेपर पुरुषको जिस संतोष और सुखकी प्राप्ति होती है, उसका दूसरे किसी उपायसे प्राप्त होना असम्भव है ॥ १७ ॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ६ ॥

जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीकी

बुराई करनेका विचार अपने मनमें नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ७ ॥

जगत्‌में कामना ही एकमात्र बन्धन है, यहाँ दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ७ ॥

कामतो मुच्यमानस्तु धूम्राभ्रादिव चन्द्रमाः ।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण वर्तते ॥ ८ ॥

कामनासे मुक्त हुआ रजोगुणरहित धीर पुरुष धूमिल रंगके बादलसे निकले हुए चन्द्रमाकी भाँति निर्मल होकर धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ ८ ॥

येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान् ।
येनास्नेहो बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १८ ॥

जिससे बिना भोजनके भी मनुष्य तृप्त हो जाता है, जिसके होनेसे निर्धनको भी पूर्ण संतोष रहता है तथा जिसका आश्रय मिलनेसे घृत आदि स्निग्ध पदार्थका सेवन किये बिना भी मनुष्य अपनेमें अनन्त बलका अनुभव करता है, उस ब्रह्मको जो जानता है, वही वेदोंका तत्त्वज्ञ है ॥ १८ ॥

संगुह्यान्यात्मनो द्वाराण्यपिधाय विचिन्तयन् ।
यो ह्यास्ते ब्राह्मणः शिष्टः स आत्मरतिरुच्यते ॥ १९ ॥

जो अपनी इन्द्रियोंके सुरक्षित द्वारोंको सब ओरसे बंद करके नित्य ब्रह्मका चिन्तन करता रहता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण आत्माराम कहलाता है ॥ १९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामः ॥ ९ ॥

जैसे नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण और अविचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, उसी प्रकार सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ॥

स कामकान्तो न तु कामकामः
स वै कामात् स्वर्गमुपैति देही ॥ १० ॥

भोग ही उस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी कामना करते हैं, परंतु वह भोगोंकी कामना नहीं रखता । जो कामभोग चाहनेवाला देहाभिमानी है, वह कामनाओंके फलस्वरूप स्वर्गलोकमें चला जाता है ॥ १० ॥

TULSI RAMAYAN UTTER KAND

[illegible]

[illegible] 5

[illegible] 5

[illegible] 6

[illegible] 6

[illegible] 25

[illegible] 25

[illegible] 5

[illegible] 5

[illegible] 1

[illegible] 1

[illegible] 2

[illegible] 2

[illegible] 3

[illegible] 3

[illegible] 4

[illegible] 4

[illegible] 34

[illegible] 34

सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा।।
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता।।2।।

श्रीरामजी वही सच्चिदानन्दघन हैं जो अजन्मा, विज्ञानस्वरूप, रूप और बलके धाम, सर्वव्यापक एवं व्याप्य (सर्वरूप) अखण्ड, अनन्त, सम्पूर्ण अमोघशक्ति (जिसकी शक्ति कभी व्यर्थ नहीं होती) और छः ऐश्वर्योंसे युक्त भगवान् हैं।।2।।

अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता।।
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा।।3।।

वे निर्गुण (माया के गणों से रहित), महान् वाणी और इन्दियोंसे परे सब कुछ देखनेवाले, निर्दोष, अजेय, ममतारहित, निराकार (मायिक आकारसे रहित), मोहरहित, नित्य, मायारहित, सुख की राशि,।।3।।

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।।
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।।4।।

प्रकृति से परे, प्रभु (सर्वसमर्थ) सदा सबके हृदयमें बसने वाले, इच्छारहित, विकाररहित, अविनाशी ब्रह्म हैं। यहाँ (श्रीराममें) मोह का कारण ही नहीं है। क्या अन्धकार का समूह कभी सूर्यके सामने जा सकता है ?।।4।।

दो.-भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।।72क।।

भगवान् प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने भक्तोंके लिये राजाका शरीर धारण किया और साधारण मनुष्योंके-से अनेकों परम पावन चरित्र किये।।72(क)।। जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ।।72ख।।
जैसे कोई नट (खेल करनेवाला) अनेक वेष धारण करके नृत्य करता है, और वही-वही (जैसा वेष होता है, उसीके अनुकूल) भाव दिखलाता है; पर स्वयं वह उनमेंसे कोई हो नहीं जाता।।72(ख)।।

नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना।।
ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर।।2।।

हे नाथ ! यहाँ कुछ दूसरा ही कारण है। हे भगवान् के वाहन गरुड़जी ! उसे सावधान होकर सुनिये। एक सीतापति श्रीरामजी ही अखण्ड ज्ञानस्वरुप हैं और जड़-चेतन सभी जीव मायाके वश हैं।।2।।

जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस।।
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी।।3।।

यदि जीवों को एकरस (अखण्ड) ज्ञान रहे तो कहिये, फिर ईश्वर और जीवमें भेद ही कैसा ? अभिमानी जीव मायाके वश है और वह [सत्त्व, रज, तम-इन] तीनों गुणों की खान माया ईश्वर के वशमें है।।3।।

परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।।4।।

जीव परतंत्र है, भगवान् स्वतत्र हैं। जीव अनेक हैं, श्रीपति भगवान् एक हैं। यद्यपि माया का किया हुआ यह भेद असत् है तथापि वह भगवान् के भजन के बिना करोड़ों उपाय करनेपर भी नहीं जा सकता।।4।।

दो.-रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान।।78क।।

श्रीरामचन्द्रजी के भजन बिना जो मोक्षपद चाहता है, वह मनुष्य ज्ञानवान् होनेपर भी बिना पूँछ और सींगका पशु है।।78 (क)।।

दो.-माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि।।85क।।

माया से उत्पन्न सब भ्रम अब तुझको नहीं व्यापेंगे। मुझे अनादि, अजन्मा, अगुण, (प्रकृतिके गुणोंसे रहित) और [गुणातीत दिव्य] गुणों की खान ब्रह्म जानना।।85(क)।।

कोरें दंडवत सप्रेम द्विज सिव सन्मुख कर जोरि।।
बिनय करत गदगद स्वर समुझि घोर गति मोरि।।107ख।।

प्रेम सहित दण्डवत् करके वे ब्राह्मण श्रीशिवजी के सामने हाथ जोड़कर मेरी भयंकर गति (दण्ड) का विचार कर गद्गद वाणीसे विनती करने लगे।।107(ख)।।

छं.-नमामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरुपं।।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहं।।1।।

हे मोक्षस्वरुप, विभु, व्यापक, ब्रह्म और वेदस्वरुप, ईशान दिशाके ईश्वर तथा सबके स्वामी श्रीशिवजी ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। निजस्वरुप में स्थित (अर्थात् मायादिरहित) [मायिकि] गुणोंसे रहित, भेदरहित, इच्छारहित, चेतन, आकाशरुप एवं आकाशको ही वस्त्ररूपमें धारण करनेवाले दिम्बर [अथवा आकाशको भी आच्छादित करनेवाले] आपको मैं भजता हूँ।।1।।

निराकारमोंकारमूलं तुरीयं। गिरा ग्यान गोतीतमीशं गिरीशं।।
करालं महाकाल कालं कृपालं। गुणागार संसारपारं नतोऽहं।।2।।

निराकार, ओंकार के मूल, तुरीय (तीनों गुणों से अतीत), वाणी, ज्ञान और इन्द्रियों से परे, कैलासपति, विकराल, महाकाल के भी काल, कृपालु, गुणों के धाम, संसार से परे आप परमेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।।2।।

तुषाराद्रि संकाश गौरं गमीरं। मनोभूत कोटि प्रभा श्री शरीरं।।
स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गंगा। तसद्भालबालेन्दु कंठे भुजंगा।।3।।

जो हिमालय के समान गौर वर्ण तथा गम्भीर हैं, जिसके शरीर में करोड़ों कामदेवों की ज्योति एवं शोभा है, जिनके सिर पर सुन्दर नदी गंगाजी विराजमान हैं, जिनके ललाटपर द्वितीयाका चन्द्रमा और गले में सर्प सुशोभित हैं।।3।।

चलत्कुंलं भ्रू सुनेत्रं विशालं। प्रसन्नानं नीलकंठं दयालं।।
मृगाधीशचरमाम्बरं मुण्डमालं। प्रियं शंकरं सर्वनाथं भजामि।।4।।

जिनके कानों के कुण्डल हिल रहे हैं, सुन्दर भृकुटी और विशाल नेत्र हैं; जो प्रसन्नमुख, नीलकण्ठ और दयालु हैं; सिंहचर्म का वस्त्र धारण किये और मुण्डमाला पहने हैं; उन सबके प्यारे और सबके नाथ [कल्याण करनेवाले] श्रीशंकरजीको मैं भजता हूँ।।4।।

प्रचंडं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशं। अखंडं अजं भानुकोटिप्रकाशं।।
त्रयः शूल निर्मूलनं शूलपाणिं। भजेऽहं भवानीपतिं भावगम्यं।।5।।

प्रचण्ड (रुद्ररूप), श्रेष्ठ, तेजस्वी, परमेश्वर, अखण्ड, अजन्मा, करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशवाले, तीनों प्रकार के शूलों (दुःखों) को निर्मूल करनेवाले, हाथमें त्रिशूल धारण किये, भाव (प्रेम) के द्वारा प्राप्त होनेवाले भवानीके पति श्रीशंकरजीको मैं भजता हूँ।।5।।

कलातीत कल्याण कल्पान्तकारी। सदा सज्जनानन्ददाता पुरारी।।
चिदानंद संदोह मोहापहारी। प्रसीद पसीद प्रभो मन्मथारी।।6।।

कलाओं से परे, कल्याण, स्वरुप, कल्पका अन्त (प्रलय) करने वाले, सज्जनों को सदा आनन्द देने वाले, त्रिपुर के शत्रु, सच्चिदानन्दघन, मोह को हरनेवाले, मनको मथ डालनेवाले कामदेवके शत्रु हे प्रभो ! प्रसन्न हूजिये प्रसन्न हूजिये।।6।।

न यावद् उमानाथ पादारविन्दं। भजंतीह लोके परे वा नराणां।।
न तावत्सुखं शान्ति सन्तापनाशं। प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासं।।7।।

जबतक पार्वती के पति आपके चरणकमलों से मनुष्य नहीं भजते, तबतक उन्हें न तो इहलोक और परलोक में सुख-शान्ति मिलती है और न उनके तापों का नाश होता है। अतः हे समस्त जीवों के अंदर (हृदयमें) निवास करनेवाले प्रभो ! प्रसन्न हूजिये।।7।।

न जानामि योगं जपं नैव पूजां। नतोऽहं सदा सर्वदा शंभु तुभ्यं।।
जरा जन्म दुःखौघ तातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो।।8।।

मैं न तो योग जानता हूँ, न जप और न पूजा ही। हे शम्भो ! मैं तो सदा-सर्वदा आपको ही नमस्कार करता हूँ। हे प्रभो ! बुढ़ापा तथा जन्म [मृत्यु] के दुःख समूहों से जलते हुए मुझ दुःखीको दुःखसे रक्षा करिये। हे ईश्वर ! हे शम्भो ! मैं नमस्कार करता हूँ।।8।।

श्लोक-रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये।।
ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषां शम्भुः प्रसीदति।।9।।

भगवान् रुद्र की स्तुति का यह अष्टक उन शंकर जी की तुष्टि (प्रसन्नता) के लिये ब्राह्मणद्वारा कहा गया। जो मनुष्य इसे भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं, उनपर भगवान् शम्भु प्रसन्न हो जाते हैं।।9।।

दो.-सुनि बिनती सर्बग्य सिव देखि बिप्र अनुरागु।

लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।।
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखंड अनूपा।।2।।

ब्रह्मका उपदेश करने लगे कि वह अजन्मा है, अद्वैत है, निर्गुण है और हृदय का स्वामी (अन्तर्यामी) है। उसे कोई बुद्धि के द्वारा माप नहीं सकता, वह इच्छारहित, नामरहित, रूपरहित, अनुभवसे जानने योग्य, अखण्ड और उपमारहित है,।।2।।

मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुख रासी।।
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा।।3।।

वह मन और इन्द्रियों से परे, निर्मल, विनाशरहित, निर्विकार, सीमारहित और सुख की राशि है। वेद ऐसा गाते हैं कि वही तू है (तत्त्वमसि), जल और जल की लहर की भाँति उसमें और तुझमें कोई भेद नहीं है।।3।।

सर्वथा मुक्त हो जायगा॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे॥ ३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें* और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा†॥ ३५॥

* गीता अ० ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये।

† गीता अ० ६ श्लोक ३० में देखना चाहिये।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है; तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है॥ ३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ ३९ ॥

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं॥ ११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है॥ १२॥

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है॥ १३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बर्त रहा है॥ १४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है; किन्तु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं॥ १५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है॥ १६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं॥ १७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ,

हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी* ही होते हैं॥ १८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं॥ १९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है॥ २०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन

* इसका विस्तार गीता अध्याय ६ श्लोक ३२ की टिप्पणीमें देखना चाहिये।

परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है॥ २१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता॥ २२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है॥ २३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है॥ २४॥

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है॥ २॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं॥ ३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, किन्तु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ॥ ४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है॥ ५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान॥ ६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

हे अर्जुन! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ॥ ७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ॥ ८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

हे अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश* स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते॥ ९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

---

* जिसके सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्वभावके बिना अपने-आप सत्तामात्रसे ही होते हैं, उसका नाम 'उदासीनके सदृश' है।

अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा॥ २८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट* हूँ॥ २९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है॥ ३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

* जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्यापक हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता॥ ३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं॥ ३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर॥ ३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही

दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और आप भी मेरे प्रति कहते हैं॥ १२-१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥

हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय* स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही॥ १४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले! हे भूतोंके ईश्वर! हे देवोंके देव! हे जगत्‌के स्वामी! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं॥ १५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं॥ १६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।

* गीता अध्याय ४ श्लोक ६ में इसका विस्तार देखना चाहिये।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन-किन भावोंमें मेरेद्वारा चिन्तन करनेयोग्य हैं?॥ १७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है॥ १९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ॥ २०॥

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्त्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है†, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको

* अनन्यभक्तिका भाव अगले श्लोकमें विस्तारपूर्वक कहा है।

† सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेसे उस पुरुषका अति अपराध

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

श्रीभगवान् बोले— मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर

करनेवालेमें भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरोंमें तो कहना ही क्या है।

मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए* जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥ २॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

परन्तु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ ३-४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है॥ ५॥

* अर्थात् गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ में लिखे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं*॥ ६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ॥ ७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये

* इस श्लोकका विशेष भाव जाननेके लिये गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ देखना चाहिये।

अध्यात्मज्ञानमें* नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान† है और जो इससे विपरीत है वह अज्ञान‡ है—ऐसा कहा है॥ ११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही॥ १२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह

* जिस ज्ञानके द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तु जानी जाय, उस ज्ञानका नाम 'अध्यात्मज्ञान' है।

† इस अध्यायके श्लोक ७ से लेकर यहाँतक जो साधन कहे हैं, वे सब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे 'ज्ञान' नामसे कहे गये हैं।

‡ ऊपर कहे हुए ज्ञानके साधनोंसे विपरीत तो मान, दम्भ, हिंसा आदि हैं, वे अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे 'अज्ञान' नामसे कहे गये हैं।

संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है*॥ १३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है॥ १४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर भी वही है। और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय† है तथा अति समीपमें‡ और

* आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को व्याप्त करके स्थित है।

† जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है।

‡ वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है।

दूरमें* भी स्थित वही है॥ १५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है†; तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है॥ १६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति‡ एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है॥ १७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

इस प्रकार क्षेत्र* तथा ज्ञान† और जाननेयोग्य परमात्माका स्वरूप‡ संक्षेपसे कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है॥ १८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान॥ १९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

कार्य§ और करण$ को उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है॥ २०॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है; तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है॥ १५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥

श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है॥ १६॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है॥ १९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।

*-† इसी अध्यायके श्लोक १३ में देखना चाहिये।

GITA 14

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परमधाम* है॥ ६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है† और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है॥ ७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता

फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है— उसमें जाता है॥ ८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके— अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है॥ ९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्वसे जानते हैं॥ १०॥

करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है— उसको तू मेरा ही तेज जान॥ १२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ॥ १३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार* प्रकारके अन्नको पचाता हूँ॥ १४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन* होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य† हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ॥ १५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी ये दो प्रकारके‡ पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है॥ १६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों

* विचारके द्वारा बुद्धिमें रहनेवाले संशय, विपर्यय आदि दोषोंको हटानेका नाम 'अपोहन' है।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं*, उन अज्ञानियोंको तू आसुर स्वभाववाले जान ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है*, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके† मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

* जैसे बर्फ जलसे व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण संसार

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज* कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य-सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥ ५० ॥

VALMIKI RAMAYAN

प्रतिगृह्णीष्व काकुत्स्थ मत्प्रियं कुरु राघव ।
दत्तस्य हि पुनर्दाने सुमहत् फलमुच्यते ॥ ३१ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण रघुनन्दन! आप इसे लीजिये और मेरा प्रिय कीजिये, क्योंकि किसीकी दी हुई वस्तुका पुनः दान कर देनेसे महान् फलकी प्राप्ति बतायी जाती है ॥ ३१ ॥

uttarkan 76

SANT VANI OR ANUBHAV

ज्यों तिल माँही तेल है, ज्यों चकमक में आगि ।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै तो जागि ॥

परमात्मा से ओतप्रोत है, इस जगत में जो कुछ भी 'जगत्' है वह प्रभुमय है, हरि का रूप-विलास है —**'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** । इसे समझने के लिये आवश्यकता है । अपने भीतर डूबकर अपनी वास्तविक आत्म-सत्ता का साक्षात्कार करने की । कबीर इसे ही 'पिय का परिचय' कहते हैं—

पिउ परिचय तब जानिये, पिउ से हिलमिल होय ।
पिउ की लाली मुख पड़ै, परगट दीसै सोय ॥
लिखा-लिखी की है नहीं, देखा-देखी की बात ।
दुलहा-दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात ॥

को प्रभु के चरणों में पहुँचा देता है, उसको अपने भीतर न पाकर भक्त का हृदय रो उठता है—

कै बिरहिन को मीच दे, कै आपा दिखलाय ।
आठ पहर का दाझना, मोपै सहा न जाय ॥
हिरदे भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय ।
जाके लागी सो लखै, कै जिन लाई सोय ॥

विरह की वह ज्वाला अमृतमयी है ; क्योंकि इसमें 'पिय-मिलन की आस' बराबर है । मिलन की विह्वल प्रतीक्षा में विरह की ये घड़ियाँ भी सुखकर ही हैं । 'पति' से मिलने के लिये कबीर का साधक हृदय कराह उठता है—

येहि तन का दिवला करौं, बाती मेलौं जीव ।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव ॥

इस शरीर का दीपक बनाऊँ, जीव को बत्ती करूँ और लोहू का तेल जलाऊँ, यदि 'पिय' के मुख देखने को मिले । त्रुटियों,

हिरदे में महबूब है, हरदम का प्याला ।
पीवेगा कोई जौहरी, गुरुमुख मतवाला ॥
पियत पियाला प्रेम का, सुधरे सब साथी ।
आठ पहर झूमत रहै, जस मैगल हाथी ॥
धरती तो आसन किया, तंबू असमाना ।
चोला पहिरा खाक का रह पाक समाना ॥

संतो सहज समाधि भली है।
जब से दया भयी सतगुरु की, सुरति न अनत चली है,
जहँ-जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा,
घर वनखंड एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा ॥
शब्द निरन्तर मनुवा राचा, मलिन वासना त्यागी।
जागत सोवत ऊठत बैठत, ऐसी तारी लागी।
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ, काया-कष्ट न धारूँ।
उघरे नैनन साहेब देखूँ, सुन्दर बदन निहारूँ॥
कहहिं कबीर यह उन्मनि रहनी सो परगट कहि गाई।
दुख-सुख के वह परे परम पद, सो पद है सुखदाई ॥

३१ गुरु नानक की नाम-साधना

कोटि-कोटि अघ काटन हारा। दुख दुरिकरन जीअका दातारा ॥
सूरबीर बचन के बली। कउला बपुरी संती छली ॥
ताका संगु बाँछहि सुरदेव। अमोघ दरस सफल जाकी सेव ॥
करजोड़ि नानकु करे अरदासि। मोहि संत-टहल दीजै गुणतासि ॥

संत की रहनी में अन्तर्मुखता, दीनता, सेवा, बंदगी ये ही चार बातें मुख्य रूप से नानक ने स्वीकार की हैं—

अंतरि बसै, न बाहरि जाइ।
अंमृतु छोडि, काहे बिषु खाइ ॥
ऐसा गियानु जपहु मन मेरे।
होवहु चाकर साँचे केरे ॥
गियानु, धियानु सभु कोई रवै।
बाँधनि, बाँधिया सभु जगु भवै ॥
सेवा करे सु चाकर होइ।
जलि थलि महि अलि रवि रहिआ सोइ ॥
हम नहिं चंगे, बुरा नहिं कोइ।
प्रणवति नानकु तारे सोइ ॥

अपने अन्तर में ही प्रीतम के दरस-परस का आनन्द पाकर छके हुए दादू ने उस बेहोशी में गाया है—

सदा लीन आनंद में, सहज रूप सब ठौर।
दादू देखै एक कौं, दूजा नाहीं और॥
नैनहुँ आगें देखिये, आतम अंतर सोइ।
तेजपुंज सब भरि रह्या, झिलिमिलि झिलिमिलि होइ॥

बैठत रामहि ऊठत रामही।
बोलत रामहि राम रह्यो है॥
जीमत रामहि पीवत रामही।
धामहिं रामहि राम गह्यो है॥
जागत रामहि सोवत रामही।
जोवत रामहि राम लह्यो है॥
देतहु रामहि लेतहु रामही।
'सुन्दर' रामहि राम रह्यो है॥

जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि-कहि न सुनाव।
अंतरजामी जानिहै, अंतरगत का भाव॥
गुप्त प्रगट जेही करी, करें मन की खूम।
अंतरजामी रामजी, सब तुमको मालूम॥
सुमिरन ऐसा कीजिये, दूजा लखै न कोय।
ओंठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय॥

और फिर—

माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहों न राम।
सुमिरन मेरा हरि करे, मैं पाया बिसराम॥

मैं तू हुआ, तू मैं हुआ, मैं देह हुआ तू प्राण हुआ !
अब कोई यह न कह सके, मैं और हूँ तू और है !!

कहता है—

न है कुछ तमन्ना न कुछ जुस्तजू है,
कि वहदत में साकी न सागर न बू है !!
मिलीं दिल को आँखें जभी मारफत की,
जिधर देखता हूँ, सनम रू-बरू है !!
गुलिस्ताँ में जाकर हर इक गुल को देखा,
तो मेरी ही रंगत व मेरी ही बू है !!
मेरा तेरा उट्ठा, हुए एक ही हम,
रही कुछ न हसरत न कुछ आरजू है !!

परमात्मा को जो सर्वत्र देखता है, जो सर्वदा उसी एक को देखता है, वही उस प्रेममद में छके रहने के कारण बोल उठेगा—

जैसी तेरी खुशी हो सब नाच तू नचा ले ।
सब छान-बीनकर ले, हर तौर दिल जमा ले !

अजब तेरा कानून देखा खुदाया !
जहाँ दिल दिया फिर वहीं तुझको पाया !!
जो तुझ पै फिदा दिल हुआ एक बारी ।
उसे प्रेम का तूने जलवा दिखाया ॥
तेरी पाक सीरत का आशिक हुआ जो ।
वही रँग रँगा फिर जो तूने रँगाया ॥

ग़ज़ल

चेतावनी (१)

शाहंशहे जहान है, सायल हुआ है तू।
पैदा कुने ज़मान है, डायल हुआ है तू॥
सौ बार ग़र्ज़ होवे तो, धो धो पियें क़दम।
क्यों चर्खो मिहरो माह पै मायल हुआ है तू॥
खंजर की क्या मजाल कि इक ज़ख्म कर सके।
तेरा ही है ख़याल कि घायल हुआ है तू॥
क्या हर गदाओ शाह का राज़िक है कोई और।
अफ़लासो तंगदस्ती का कायल हुआ है तू॥
टाइम है तेरे मुजरे के मौके की ताक में।
क्यों डर से उसके मुफ़्त में ज़ायल हुआ है तू॥
हम बगल तुझसे रहता है हर आन राम तो।
बन पर्दा अपनी वस्ल में हायल हुआ है तू॥१॥

शाहंशहे जहान=विश्व का सम्राट्। सायल=प्रार्थी, मंगन। पैदा कुने ज़मान=काल का भी रचयिता। डायल=Dial घड़ी या धूप घड़ी का बनावटी कालसूचक चेहरा। क़दम=पैर। चर्खो..माह

=आसमान, सूरज और चांद। मायल=आकृष्ट, इच्छुक, प्रभावित। खंजर =तलवार। गदाओ शाह=भिक्षुक तथा महाराजा, राजारंक। राज़िक= =पोषक, अन्नदाता। अफ़सासो तंगदस्ती=दरिद्रता तथा निर्धनता। कायल=मानने वाला, पीड़ित। टाइम=Time समय, काल। मुजरा=दृष्टिपात, कटाक्ष। जायल=क्षीण, दुर्बल, शक्तिहीन। हम बगल=एकही अंक में, एक ही साथ। हर आन=सदा, सर्वदा। वस्ल=मिलन, संयोग। हायल=बाधक।

उल्लास की अभिव्यक्ति (२)

यह डर से मिहर आ चमका, अहाहा, अहाहा!
उधर मह बीम से लपका, अहाहा, अहाहा!
हवा अठखेलियां करती है मेरे इक इशारे से।
है कोड़ा मौत पर मेरा, अहाहा, अहाहा!
इकाई ज़ात में मेरी असंखों रंग हैं पैदा।
मज़े करता हूं मैं क्या क्या, अहाहा अहाहा!
कहूं क्या हाल इस दिल का कि शादी मौज मारे है।
है एक उमड़ा हुआ दरिया, अहाहा, अहाहा!
यह जिस्मे राम ऐ बदगो! तसव्वर महज़ है तेरा।
हमारा बिगड़ता है क्या, अहाहा, अहाहा!

मिहर=सूर्य। मह=चंद्र। बीम=भय। है ... मेरा =मृत्यु पर भी मेरा पूर्ण शासन है। ज़ात=स्वरूप। इकाई..... पैदा=मेरी एकता में ही अनेकता भासित हुआ करती है। शादी= आनंद। मौज मारे है=तरंगित होता है। दरिया=समुद्र। जिस्मे-राम=स्वामी रामतीर्थ का शरीर। बदगो=अनुचित बातें करने वाला। तसव्वर=कल्पना, खयाल। महज=केवल, मात्र।

साधु निश्चलदास

साधु निश्चलदास की जन्म-तिथि का पता नहीं चलता। केवल इतना ही विदित है कि उनका जन्म-स्थान पूर्वी पंजाब प्रांत के हिसार जिले की हासी तहसील का कूंगड़ नामक गांव था और वे जाति के विचार से जाट थे। उनका शरीर बहुत सुंदर और सुडौल था और उनकी बुद्धि तीव्र थी तथा उन्हें विद्योपार्जन की लगन भी थी। संस्कृत पढ़ने की लालसा से उन्होंने, अपने को ब्राह्मण बालक घोषित कर, काशी के पंडितों से सभी शास्त्रों का अध्ययन किया और व्याकरण, दर्शन, साहित्य, आदि में पारंगत होकर वे एक प्रकांड विद्वान हो गए। किंतु पहले से ही दादू-पंथ में दीक्षित हो चुकने तथा जाट जाति के होने के कारण उन्हें काशी में विरोध का भी सामना करना पड़ा और अंत में वे वहां से चले आए। कहते हैं कि न्यायशास्त्र का विशेष अध्ययन उन्होंने नदिया (बंगाल) जाकर किया था और छन्दःशास्त्र प्रसिद्ध विद्वान् 'रसपुंज' से पढ़ा था। उन्होंने किहड़ौली में एक पाठशाला वेदांत पढ़ाने के लिए खोली और बूंदी जाकर वहां के राजा रामसिंह से बहुत सम्मान प्राप्त किया। उनके ग्रंथों में 'विचार सागर' तथा 'वृत्ति प्रभाकर' अधिक प्रसिद्ध हैं जिनमें उनके प्रखर पांडित्य एवं परिष्कृत विचारों का अच्छा परिचय मिलता है। उनका देहांत सं० १९२० में हुआ था।

कवित्त

दीनता कूं त्यागि नर अपनो स्वरूप देखि,
तूं तो शुद्ध ब्रह्म अज दृश्य को प्रकासी है।

आपने अज्ञान तें जगत सब तूंही रचै,
सर्ब को संहार करै आप अबिनासी है ।।
मिथ्या परपंच देखि दुःख जिन आनि जिय,
देवन को देव तूंतौ सब सुख रासी है।
जीव गज ईस होय, माया में प्रभा सै तूंही,
जैसे रज्जु सांप सीप रूप ह्वै प्रभासी है ।।१।।

रूप=चांदी ।

साखी

अंतर बाहिर एकरस, जो चेतन भर पूर।
विभु नभ सम सो ब्रह्म है, नहि नेरे नहिं दूर ।।१।।
ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित, ताकी बानी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद भ्रम छेद ।।२।।
सत्यबंध की ज्ञानतैं, नहीं निवृत्ति सयुक्त।
नित्य कर्म संतत करै, भयो चहे जो मुक्त ।।३।।
भ्रमन करत ज्यूं पवन तें, सूको पीपर पात।
शेष कर्म प्रारब्धतै, क्रिया करत दरसात ।।४।।

विभु=व्यापक। नहि....दूर=उसके लिए निकट वा दूर का कोई प्रश्न नहीं है । अहि=है । करत...छेद=संशय का निराकरण।

NICHALDASS JI

UPNISHAD

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम्।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्॥ २८॥

भय, क्रोध, आलस्य, अधिक शयन, अत्यधिक जागरण करना, अधिक भोजन करना या फिर बिल्कुल निराहार रहना आदि समस्त दुर्गुणों को योगी सदैव के लिए परित्याग कर दे॥ २८॥

[गीता (६.१७) में यही भाव 'युक्ताहार विहारस्य......................' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।]

ISHAWASYA

[पूर्ण में से पूर्ण निकाल लेने पर पूर्ण ही शेष रहने की ऋषि की अनुभूति अनोखी है । वर्तमान विज्ञान भी इस अवधारणा का साक्षात्कार नहीं कर सका है ।]

ॐ ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १॥

इस सृष्टि में जो कुछ भी (जड़ अथवा चेतन) है, वह सब ईश द्वारा आवृत-आच्छादित है (उसी के अधिकार में है)। केवल उसके द्वारा (उपयोगार्थ) छोड़े गये (सौंपे गये) का ही उपभोग करो। (अधिक का) लालच मत करो, (क्योंकि यह) धन किसका है ? (अर्थात् किसी व्यक्ति का नहीं-केवल 'ईश' का ही है)॥ १॥

जिस स्थति में (व्यक्ति) यह (मर्म) जान लेता है कि यह आत्म तत्त्व ही समस्त भूतों के रूप में प्रकट हुआ है, (तो) उस एकत्व की अनुभूति की स्थिति में मोह अथवा शोक कहाँ टिक सकते हैं ? अर्थात् ऐसी स्थिति में व्यक्ति मोह एवं शोक से परे हो जाता है ॥ ७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी
परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

वह (परमात्मा) सर्वव्यापी है, तेजस्वी है । वह देहरहित, स्नायुरहित एवं छिद्र (वर्ण) रहित है । वह शुद्ध और निष्पाप है । वह कवि (क्रान्तदर्शी), मनीषी (मन पर शासन करने वाला), सर्वजयी और स्वयं ही उत्पन्न होने वाला है । उसने अनादि काल से ही सबके लिए यथायोग्य अर्थों (साधनों) की व्यवस्था बनायी है ॥ ८॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २॥

यहाँ (ईश्वर से अनुशासित इस जगत् में) कर्म करते हुए सौ वर्ष (पूर्णायु) तक जीने की कामना करें। (इस प्रकार अनुशासित रहने से) कर्म मनुष्य को लिप्त (विकारग्रस्त) नहीं करते । (विकार मुक्त जीवन के निमित्त) यह (मार्गदर्शन) तुम्हारे लिए है , इसके अतिरिक्त परम कल्याण का और कोई अन्य मार्ग नहीं है ॥ २॥

[ऋषियों ने जीवन के ऐसे अनुशासन बतलाये हैं, जिनका अनुपालन करके मनुष्य लम्बी आयु भी पा सकता है और कर्मबन्धनों से मुक्त भी हो सकता है।]

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३॥

वे (इस अनुशासन का उल्लंघन करने वाले) लोग 'असुर्य' (केवल शरीर एवं इन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर-सद्विवेक की उपेक्षा करने वाले) नाम से जाने जाते हैं। वे (जीवन भर) गहन अन्धकार (अज्ञान) से घिरे रहते हैं। वे आत्मा (आत्म चेतना के निर्देशों) का हनन करने वाले लोग, प्रेत रूप में (शरीर छूटने पर) भी वैसे ही (अन्धकार युक्त) लोकों में जाते हैं॥ ३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।

तद्धावतोऽ न्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

अविचल वह ईश एक ही है, जो मन से भी अधिक वेगवान् है। वह सबसे पुरातन एवं स्फूर्तिवान् है, उसे देवगण (देवता अथवा इन्द्रिय समूह) प्राप्त नहीं कर पाते । वह स्थिर रहते हुए भी दौड़कर अन्य (गतिशीलों) से आगे निकल जाता है । उसके अन्तर्गत (अनुशासन में रहकर) गतिशील वायु- अप् (सृष्टि के मूल घटक) को धारण किये रहता है ॥ ४॥

[वर्तमान विज्ञान अभी प्रकाश से अधिक गतिशील तत्त्वों को खोज ही रहा है, मन की गति का तो मापन ही नहीं किया जा सका है। ऋषियों ने अविचल, किन्तु मन से भी अधिक गतिमान् का साक्षात्कार किया था।]

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५॥

वह (परमात्मतत्त्व) गतिशील भी है और स्थिर (भी) है। वह दूर से दूर भी है और निकट से निकट भी है। वह इन सब (जड़-चेतन जगत्) के अंदर भी है तथा सबके बाहर (उसे आवृत किये हुए) भी है॥ ५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

व्यक्ति (जब) सभी भूतों (जड़-चेतन सृष्टि) को (इस) आत्म तत्त्व में ही स्थित अनुभव करता है तथा सभी भूतों के अन्दर इस आत्म तत्त्व को समाहित अनुभव करता है, तब वह किसी प्रकार भ्रमित नहीं होता ॥ ६॥

[केवल पढ़े हुए ज्ञान से भ्रमों का निवारण संभव नहीं है, उसके लिए अनुभूति परक ज्ञान अनिवार्य है।]

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य:शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

यह नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो उत्पन्न होता है और न मृत्यु को ही प्राप्त होता है। यह आत्मा न तो किसी अन्य से उत्पन्न हुआ है और न इससे ही कोई उत्पन्न हुआ है । यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत

और क्षय तथा वृद्धि से रहित है । शरीर के नष्ट होने पर भी यह आत्मा विनष्ट नहीं होता ॥ १८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते॥ १९॥

यदि हनन करने वाला व्यक्ति अपने को मारने में सक्षम मानता है और हनन किया हुआ व्यक्ति स्वयं को मारा हुआ मानता है, तो वे दोनों ही (आत्मतत्व के सम्बन्ध में) अनभिज्ञ हैं; क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को विनष्ट ही करता है और न किसी के द्वारा इसे मारा जाना शक्य है ॥ १९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतु: पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मन:॥ २०॥

परमात्म चेतना इस जीवात्मा की हृदयरूपी गुफा में अणु से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी अति महान् रूप में विराजमान है। निष्काम कर्म करने वाले तथा शोकरहित कोई विरले साधक ही, परमात्मा की अनुकम्पा से ही उसे देख पाते हैं॥ २०॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥ २३॥

परमात्म तत्त्व को मात्र धर्मोपदेश सुनकर, स्तुति-वन्दना के रूप में उसकी चर्चा करके तथा शास्त्रों का अध्ययन करके नहीं जाना जा सकता। जिस पर उसकी कृपा होती है, वही उसे जान पाता है । वह परमात्मतत्त्व अधिकारी साधक के समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप को स्वयं ही अभिव्यक्त कर देता है॥

[जड़ पदार्थपरक ज्ञान सुनकर या पुस्तक से पढ़कर प्राप्त किया जा सकता है । आत्म तत्त्व परक ज्ञान-चेतन होता है. वह सत्पात्र का स्वयं वरण करता है। वह कैसे साधक का वरण करता है , यह तथ्य अगले मंत्र में स्पष्ट किया गया है ।]

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित: ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४॥

जो मनुष्य दुष्कर्मों के पाप से निवृत्त नहीं है, जिनकी इन्द्रियाँ स्वयं के नियन्त्रण में नहीं हैं तथा जिनके मन पूरी तरह से सांसारिकता से निवृत्त नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति प्रकृष्ट ज्ञानवान् होते हुए भी परिष्कृत जीवन के अभाव में इस आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होते॥ २४॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

मनीषियों ने इन्द्रियों को अश्व की संज्ञा दी है तथा (रूप-रस-गन्धादि) विषयों को गोचर (इन्द्रियों रूपी अश्वों के विचरण करने का मार्ग) बतलाया है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को (सुख-दु:खादि का अनुभव करने वाला) भोक्ता बताया गया है॥ ४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५॥

जो सदा विवेकहीन बुद्धि वाला और अनियन्त्रित इन्द्रियों वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार उच्छृङ्खल हो जाती हैं, जिस प्रकार अविवेकी सारथि के दुष्ट अश्व॥ ५॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६॥

परन्तु जो विवेकशील बुद्धि वाले तथा नियन्त्रित मन वाले हैं, उनकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार नियन्त्रित रहती हैं, जिस प्रकार श्रेष्ठ सारथि के वश में अच्छे घोड़े॥ ६॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति॥ ७॥

जो अविवेकयुक्त बुद्धि वाला, निग्रहरहित मन वाला और सदैव अशुद्ध रहने वाला है,वह कभी परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता, वरन् बारम्बार संसार के जन्म-मरण-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ ८॥

किन्तु जो विवेक बुद्धि वाला, नियन्त्रित मन वाला और सदैव पवित्र रहने वाला है, वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता॥ ८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९॥

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धिरूप सारथि वाला और मन को संयत रखने वाला है, वह संसार सागर से पार होकर विष्णु भगवान् के परमपद को प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥

इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय अधिक श्रेष्ठ हैं, विषय से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी उत्कृष्ट यह महान् आत्मा है॥ १०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

जीवात्मा से (ईश्वर की) अव्यक्त शक्ति श्रेष्ठ है, अव्यक्त शक्ति से वह पुरुष (परमपुरुष परमेश्वर) श्रेष्ठ है, उस परम पुरुष से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। वह सबकी पराकाष्ठा और परमगति है ॥ ११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२॥

समस्त प्राणियों में छिपा हुआ यह आत्मतत्त्व प्रकाशित नहीं होता, वरन् सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले तत्त्वदर्शियों को सूक्ष्म बुद्धि से ही दिखाई देता है॥ १२॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

बुद्धिमान् (प्रज्ञावान्) व्यक्ति के लिए उचित है कि वह सर्वप्रथम वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लीन करे, मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में निरुद्ध करे, बुद्धि को महान् तत्त्व (आत्मा) में विलीन करे और उस आत्मा को परमपुरुष परमात्मा में नियोजित करे ॥ १३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४॥

(हे मनुष्यो!) जागो, उठकर खड़े होओ और श्रेष्ठ व ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान प्राप्त करके परमात्म तत्त्व को जानो। विद्वज्जन कहते हैं कि यह मार्ग उतना ही दुरूह है, जितना कि क्षुरे की धार पर चलना ॥ १४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ १५॥

वह परब्रह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है अर्थात् इन सबसे परे है । वह अविनाशी, अनादि और अनन्त है । वह आत्मा से भी उत्कृष्ट और ध्रुव (सत्यस्वरूप) है। उस परम तत्त्व को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥ १५॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्याय: ॥

॥ प्रथमा वल्ली ॥

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ १॥

स्वयंभू (परमात्मा) ने समस्त इन्द्रिय द्वार बहिर्मुख करके निर्मित किये हैं। इसलिए जीवात्मा बाह्य विषयों को ही देखता है- अन्तरात्मा को नहीं देखता। अमरत्व की आकांक्षा से जिसने अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों पर संयम कर लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही अन्तरात्मा (प्रत्यगात्मा) को देख सकता है॥ १॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥

बालबुद्धि व्यक्ति ही बाह्य भोगों का अनुगमन करते हैं। ऐसा करने वाले व्यक्ति मृत्यु के भयंकर पाश में फँसते हैं; किन्तु विवेकवान् पुरुष अमरता को अटल जानकर जगत् के अनित्य पदार्थों की कामना नहीं करते ॥ २॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ १०॥

जो सर्वप्रथम परमेश्वर को इहलोक और परलोक में अलग-अलग रूपों में देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् उसे बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में फँसना पड़ता है॥ १०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ ११॥

सत्य अथवा शुद्ध मन से ही परमात्मा का तत्त्व जाना जा सकता है। इस जगत् में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है; किन्तु जो व्यक्ति इसमें भिन्नता देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु का वरण करता है॥ ११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्॥ १२॥

जो परम पुरुष अङ्गुष्ठ परिमाण में प्राणी की देह के मध्य भाग में स्थित है, वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान का शासक है। उसे इस प्रकार जान लेने के बाद प्राणी न तो किसी की निन्दा करता है और न ही किसी से घृणा करता है। यही वह ब्रह्म है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः, एतद्वै तत्॥ १३॥

वह अङ्गुष्ठ परिमाण वाला परमात्मा धुएँ से रहित प्रखर ज्योति के समान है, जो सब पर शासन करता है। वह (नित्य सनातन) ब्रह्म जैसा कल था, वैसा ही आज भी (अपरिवर्तनीय) है। यही वह परब्रह्म है॥ १३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।

एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥ १४॥

जिस प्रकार वर्षा का जल ऊँचे शिखरों पर बरस कर पहाड़ के नीचे विभिन्न स्थलों में चला जाता है, उसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय वालों (अथवा विभिन्न स्वभाव वाले मनुष्यों-असुरों और देवों) को जो परमेश्वर से भिन्न देखता है, वह उन्हीं का अनुगमन करता है (अर्थात् उस बिखरे जल की तरह विभिन्न देव-असुर आदि के लोकों व योनियों में भटकता रहता है) ॥ १४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।

एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १५॥

हे गौतम (नचिकेता)! जिस प्रकार शुद्ध जल सिंचित होने पर (जहाँ जाता है) उसी रूप में बदल जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी (इस तथ्य को समझ लेने वाले) की आत्मा भी उसी प्रकार हो जाती है ॥ १५॥

॥ तृतीया वल्ली ॥

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥ १ ॥

जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, वह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है। वह विशुद्ध तत्त्व अविनाशी है, वही ब्रह्म है। समस्त लोक उसी का आश्रय ग्रहण करते हैं, उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता, यही वह ब्रह्म है ॥१ ॥

[वृक्ष की जड़ों से एक जैसा ही रस संचरित होता है। पत्तियों, पुष्पों में वह वृक्ष के गुण के अनुसार रूपान्तरित हो जाता है। सृष्टि रूपी सनातन वृक्ष का मूल ऊपर अनन्ताकाश में है। वहाँ से संचरित रस सृष्टि के घटकों में पहुँच कर अनेक रूपों में प्रकट होता है।]

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

यह सम्पूर्ण विश्व उस प्राणरूप ब्रह्म से ही निःसृत(प्रकट) होकर उसी में गतिशील है। जो उस महान् भयंकर प्रहारोद्यत वज्र की तरह ब्रह्म को जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

KENOPNISHAD

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

जो (परमात्मतत्त्व) कर्णेन्द्रिय का श्रोत्र (श्रवण शक्ति) है, मन का मन (मनन क्षमता) है, वागिन्द्रिय की वाणी (वाक् शक्ति), प्राण का प्राण (संचालक) है, चक्षु का चक्षु (दर्शन क्षमता) है, अर्थात् जो इन सबका कारणभूत तत्त्व है, (उसे जानने वाले) धीर पुरुष (जो चक्षु, श्रोत्र, मन आदि के आवेगों से उद्वेलित नहीं होते) इस लोक से जाते हुए (अथवा जीवन मुक्त होकर) अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्या-दन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥ ३ ॥

वहाँ (परब्रह्म परमात्मा तक) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों तथा मन की भी पहुँच नहीं है । उसे जानने की बुद्धि हममें नहीं है, न ही किसी अन्य की व्याख्या से यह संभव हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञात और अज्ञात सभी तत्त्वों से सर्वथा परे है- ऐसा हमने अपने पूर्वाचार्यों के मुख से सुना है, जिन्होंने हमें उस ब्रह्म के विषय में भली-भाँति व्याख्या करके समझाया है ॥ ३ ॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ४॥

जो वाणी के द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता; अपितु वाणी ही जिसकी महिमा से प्रकट होती है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो। वाणी द्वारा निरूपित जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥

मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता; अपितु मन जिसकी महत्ता से मनन करता है, उसी को ब्रह्म समझो। मन द्वारा मनन किए हुए जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसे चक्षु के द्वारा नहीं देखा जा सकता; अपितु चक्षु जिसकी महिमा से देखने में सक्षम होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । चक्षु के द्वारा द्रष्टव्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

श्रोत्र से जिसे नहीं सुना जा सकता; अपितु श्रोत्र जिसकी महत्ता से सुनने में सक्षम होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । श्रोत्रेन्द्रियगम्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता; किन्तु प्राण जिससे प्रेरित होते हैं, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । प्राण शक्ति से क्रियाशील जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥ १॥

यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ब्रह्मस्वरूप है, यह उसी से उत्पन्न होता, उसी में लय होता, उसी से संचालित होता है। राग-द्वेष से दूर शान्त भाव से उसी की उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही पुरुष संकल्पमय है। इस लोक में पुरुष जैसे संकल्प धारण करता है, वैसा ही मरने के बाद होता है, अतः पुरुष को सत्संकल्प करने चाहिए ॥ १ ॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः॥ २॥

वह परमात्मा प्राणस्वरूप, मनोमय शरीर वाला, देदीप्यमान, सत्संकल्पवान् , आकाश सदृश विराट् स्वरूप वाला, सम्पूर्ण जगत् का रचयिता, सम्पूर्ण कामनाओं वाला, सम्पूर्ण गन्ध एवं रस सम्पन्न, सर्वत्र संव्याप्त, वाणी रहित तथा भ्रमशून्य है॥ २॥

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥ ३॥

हृदय गुहा में अवस्थित यह आत्मा धान से, जौ से, सरसों से, श्यामाक (साँवाँ) से या श्यामाकतण्डुल से भी सूक्ष्म है तथा हृदय गुहा में स्थित यह आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक या इन सब लोकों से भी विराट् है॥ ३॥